NOVATEUR PUBLICATIONS
JournalNX- A Multidisciplinary Peer Reviewed Journal
ISSN No: 2581 - 4230
VOLUME 8, ISSUE 9, Sep. -2022

उत्तराखण्ड के परम्परागत समाज में दलितों की सामाजिक स्थिति

(Social status of Dalits in the traditional society of Uttarakhand)

1. **चरन सिंह, शोध छात्र, इतिहास विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, रामनगर, नैनीताल**
2. **डॉ. शरद भट्ट, सहायक प्राध्यापक, इतिहास विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय रामनगर, नैनीताल**

उत्तराखण्ड के समाज में वैदिक कालीन वर्णव्यवस्था के अनुरुप चार प्रमुख वर्ण या जातियां पायी जाती है, प्रथम ब्राहमण, द्वितीय क्षत्रिय, तृतीय वैश्य एवं चतुर्थ शूद्र। इनमें से प्रत्येक जाति के अन्तर्गत अनेकों उपजातियों का वर्णन भी उत्तराखण्ड के इतिहास में स्पष्ट्रया दिखता है। यहां के दलितों का सम्बन्ध शूद्र जाति से है। उत्तराखण्ड के शूद्र वर्ग या अछूत जातियों को यहां का मूल निवासी माना जाता है। उत्तराखंड के समाज में आरम्भ से ही सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में इस वर्ग की महत्वपूर्ण भूमिका रही है अर्थात कृषक कार्य, मजदूरी, स्थापत्यकला वास्तुकला संगीत मनोरंजन, भवन निर्माण, मूर्तिकला, शिल्पकला एवं दैनिक जीवन से लेकर धार्मिक अनुष्ठान तक के कार्यो में इस वर्ग की प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है। उत्तराखंड के अछूत या शूद्रो ने समाज में शिल्प कार्य में एक पृथक पहचान बनाई। फलतः ये शिल्पकार के नाम से लोकप्रिय हुए। समय परिवर्तन के साथ–साथ यहां के दलित भिन्न–भिन्न नाम से प्रसिद्ध रहें जैसे– अछूत, दास, डोम, हरिजन, राम, शिल्पकार इत्यादि।

भारतीय इतिहास में वर्णव्यवस्था का प्रथम साक्ष्य ऋग्वेद के दसवें मण्डल के पुरुष सूक्त से मिलता है जिसमें चारो वर्णों की उत्पत्ति विराट पुरुष के अलग–अलग अंगो से हुयी है जैसे कि मुॅह से ब्राहमण, भुजा से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य तथा पैरो से शूद्र वर्ण की।

शूद्र शब्द का तात्पर्य दुखो से घिरा हुआ या तृषित है। ऋग्वैदिक काल की वर्णव्यवस्था जाति आधारित ना होकर कर्म आधारित है, जिसका स्पष्ट प्रमाण ऋग्वैदिक ऋषि के एक कथन से मिलता है जिसमें वह उल्लेख करता है– ''में कवि हूॅ, मेंरा पिता वैद्य हैं और मेंरी माता आटा पीसती है। समस्त परिवार एक साथ रहते हुए भी हम विभिन्न साधनों से आजीविका चलाते हैं।'' अतः स्पष्ट है कि आजीविका का चुनाव वंशानुगत ना होकर स्वतंत्र रुप से था। इसी के आगे वैदिक ऋषि कहते है कि– हे! इन्द्र क्या तुम मुझे राजा बनाओगे? या फिर ऋषि या अत्यधिक मात्रा में धन प्रदान करोगे। के0सी0 श्रीवास्तव के कथनानुसार, ऋग्वैदिक काल में वर्ण शब्द का अर्थ रंग तथा कहीं–कहीं व्यवसाय चयन के लिए उपयोग हुआ है। जैसे कि आर्यो को गौर वर्ण एवं दासो को कृष्ण वर्ण कहा गया है। कालान्तर में

वैदिक कर्मकाण्डों से समाज में जटिलता उत्पन्न हो गई फलतः वर्णव्यवस्था का विशुद्ध आधार जाति प्रधान हो गया। अतः उत्तराखण्ड का समाज चार वर्णो में विभाजित हो गया ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र। ये स्थानीय भाषा में बामण, खसिया एवं डोम के नाम से जाने गए।

उत्तराखण्ड के मूल निवासी निषाद, कौल, और गोंड लोग थे, जिनको आधुनिक युग में हरिजन या शिल्पकार कहा जाता है। इतिहासकारों का मानना है कि अतीत में यहां जो शक्तिशाली जातियां आयी उन्होनें अपने पूर्ववती जाति के लोगों को पराजित कर शासन किया जैसे कि– कोलो को किरातों ने पराजित किया, किरातों को खशों ने और खशों को वैदिक आर्यो ने पराजित किया। खश, किरात, शबर और पुलिन्द जातिया म्लेच्छों के साथ–साथ अमरकोश में शूद्र वर्ण में समाहित की गयी है। किरात कुमाऊॅ उत्तराखण्ड की एक आदिम जाति थी। खशों ने ई0पू0 बहुत समय पहले ही इस भूमि में प्रवेश कर लिया था। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान ग्रियसन का भी मत है कि गढ़वाल तथा कुमाऊॅ के प्राचीन निवासी किरात थे। चौथी सदी ई0पूर्व यूनानी राजदूत मेंगस्थनीज ने भी अपने इतिहास में उत्तराखंड क्षेत्र में किरात जाति का होना उल्लेख किया है। किरातों को वैदिक साहित्य में अनार्य कहा गया।

उत्तराखंड के सन्दर्भ में कई विद्वानों का मत है कि खश जाति ने यहॉ के शिल्पकारों को अपना दास बना दिया। डबराल, कोल, मुण्ड जाति को यहां आने वाली प्राचीनतम जाति मानते है। डोम वर्तमान समय में विशुद्ध रुप से इनके प्रतिनिधि है। शेर सिंह बिष्ट ने भी डबराल के विचारों की पुष्टि करते हुए कहा है कि वर्तमान उत्तराखण्ड के समाज में निम्न वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले शिल्पकार समुदाय कोल जाति के ही वंशज है। डी0एन0 मजूमदार उत्तराखण्ड के शिल्पकारों को आदिम डोम नृवंश से मानते है, जिसमें डोम वर्ग में कोली, कोलता, बाजगिर तथा ओड़ आदि सभी जातियाँ आती हैं। मजूमदार ने उत्तराखंड के डोम शिल्पकारों में गुहा के वर्गीकरण का ग्यारह जातियों में निषाद प्रोटोआस्ट्लॉयड एवं कोल–मुण्ड–शबर का रक्त सम्बन्ध माना है, जिनका रुप रंग अपेक्षाकृत काला है। राहुल सांकृत्यायन के अनुसार शिल्पकार वर्ग खशियों की सभी बस्तियों में मिलते हैं और उनकी सेवा करते हैं।स्वयं की खेती न होने के कारण ये दूसरे के खेतों में कृषि मजदूरी तथा शिल्पकार्य करके अपना जीविकापार्जन चलाते हैं। मेंदानों की डोम जाति से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

बद्रीदत्त पांडे के कथनानुसार यहाँ के मूल निवासी दस्यु है, जिनको प्राचीन जात्याभिमानी लेखकों ने डोम, चॉडाल, अत्यंज, शूद्र खपच आदि नामों से संबोधित किया है। कालांतर में महात्मा गांधी की कृपा से ये हरिजन कहे गये। रतूडी का भी यही मत है कि शिल्पकार ही यहॉ के मूल निवासी थे और ये आर्यो के भय से इस निर्जन घने पर्वतों और खाइयों में छिप गयें। कुछ समय बाद इन्होंनें यहॉ खेती बाडी करके यही स्थायी निवासी बन गयें। इनका सम्बन्ध वैदिक आर्यो व दस्युओं से जोड़ते है। कालांतर में समय परिवर्तन के साथ यहां कई जातियों ने प्रवेश किया और खस जाति ने इन दस्युओं को अपना दास बना लिया। उपरोक्त विवरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि यहॉ के

मूल निवासी कोल व किरातों का खस जाति से संघर्ष हुआ जिसमें कोलजाति को दास बनाने के लिए बाध्य कर दिया। वर्तमान में शिल्पकार जो कि कोल जाति के वास्तविक प्रतिनिधि है विशेषतः शिल्पकार ही यहां के मूल निवासी हैं।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से दलित शूद्र या शिल्पकार सदैव यहां की आवादी का महत्वपूर्ण भाग रहा। इन्होनें ही उत्तराखंड की प्राचीन संस्कृति की नीव डाली। उत्तराखंड के परम्परागत समाज में शिल्पकार या हरिजन चतुर्वण्य व्यवस्था के शूद्र वर्ग के अन्तर्गत आते हैं जिन्हें विशेषतः दलित वर्ग के नाम से जाना जाता है। शिल्पकार वर्ग से तात्पर्य उस विशेष वर्ग से है, जो विशेषतः शिल्पकला का कार्य करते हैं। औपनिवेशिक शासन में ब्रिटिश लेखकों द्वारा इन्हें डोम नाम से सम्बोधित किया गया। एटकिन्सन के अनुसार पहाड़ों में रहने वाले दास कर्म करने वाले जाति सही मायनों में यहां की मूल निवासी कहे जाते है। अतः जिन्हें दास या डोम कहा जाता है ये लोग सदियों से खसों के दास रहे हैं। कुमाऊँ के प्रथम कमिश्नर मि0 एडवर्ड गार्डनर इनके रुप रंग तथा शरीर कृति के विषय में टिप्पणी करते हुए उल्लेख करते हैं– इनके गालो की अस्थियां उभरी हुई होती हैं। इनका आकार बौना व शरीर हष्ट–पुष्ट होता है। आकार–प्रकार में ये गौड आदि आदिम जातियों से मिलती जुलती रहती है। रुप रंग व शरीर आकृति में ये अच्छे नहीं लगते हैं और उच्चजाति के हिंदुओं से उन्हें तुरंत पृथक पहचाना जाता है निश्चित ही इस जाति का आर्य जाति के साथ कोई रक्त सम्बन्ध नहीं है।

ये दास या डोम सामान्यतः काले रंग के होते हैं। एटकिसन पहाड़ी क्षेत्रों के डोम और मैदानी क्षेत्रो की डोम जाति में अन्तर करते हुए कहते है कि पहाडी क्षेत्रो में जहां डोम जातिया कृषक, हलिया, शिल्पी वादक–नृतक है, वही मेंदानी क्षेत्र के डोम, चाण्डाल अस्पृश्य व लेट कर्म करने वाली जातियाँ है।

डोम शब्द की उत्पत्ति अनिश्चित है। विद्वानों द्वारा इस शब्द को तमिल के द्रम और द्रयिड शब्दों में खोजा जाता है। एम0पी0 जोशी के अनुसार मध्य हिमालय में एक तद्भव शब्द के रुप में डोम का मूल सेस्कृत ग्रन्थों में प्रयुक्त डम अर्थात ध्वनि और डमरिन अर्थात डमरु मध्य हिमालय का डौर में खोजा जाना तर्कसंगत है क्योंकि तंत्रसार में डोम को निम्न उत्पत्ति का व्यक्ति नाचने–गाने वाला कहा जाता है। यमुनादत्त वैष्णव डोम शब्द को परिरभाषित करते हुए कहते है कि आर्यो के कबीले जब हिमालय के गिरिवाद प्रदेश में आये तो यहाँ उन्हें किरातें के स्थायी आवास मिले जिन्हें उन्होनें **दमूना** कहा। दमूना शब्द दम मूल से उत्पन्न है जिसका अर्थ संस्कृत कोष में घर या गृह से है। दम्पत्ति अथवा गृह पति भी इसी मूल शब्द से निकला है। अंग्रेजी शब्द डोमल–गृह सम्बन्धी और डोमिसाइल–स्थायी निवास है। पहाड़ी भाषा में न का ण उच्चारण होने से दमूना शब्द **दमूणा या दूमोणा** हो गया। इसकी पुष्टि डी0डी0 शर्मा के कथन से भी स्पष्ट होती है जिसमें वे डोम शब्द का प्रयोग ब्राह्मण जागीरदारों को मानते हैं, जिन्होनें इन्हें अपने खेतों में कृषिदास का कार्य व अपने घ्रणित कार्यो को करवाने में लगाया और इन्हें डोम कहा। साथ ही इनके खेतों में जो खश जाति के लोग काम करते

थे इनकी गणना भी इन्होनें इसी कोटि में की गयी। राहुल सांकृत्यायन ने डोम को मूल निवासी मानते हुए कहते है ये खशियों का कार्य करने की वजह से खशियों की बस्तियों में पाये जाते थे। डोम नाम इन जातियों को खशियों और ब्राहमणों से ही मिला। इसे स्पष्ट है कि डोम शब्द किसी वर्ग विशेष का बोधक ना होकर एक श्रमिक वर्ग का बोधक है धीरे–धीरे समय परिवर्तन के साथ शिल्पी जातियों के लिए प्रयुक्त होने लगा।

उत्तराखंड में प्राचीन काल से ही अनेक जातियों ने निवास किया। कोल जाति के पश्चात् किरात, किन्नर जाति ने निवास किया। इसके पश्चात खश जाति फिर बीच–बीच में नाग, शक, हूण, यवन आदि जातियों ने निवास किया। वैदिक आर्य जाति इन सबसे अंत में आयी, जिन्होनें सभी जातियों को पराजित कर दिया। फलतः यहां पर सभी जातियां मिलजुलकर रहने लगी। आरम्भिक युग में उत्तराखंड भी वैदिक कालीन वर्ग और वर्ण आधारित समाज था जोकि रंगभेद पर आधारित था। ये आर्य एवं अनार्य में विभाजित थे। आर्य का सम्बन्ध द्विज से और अनार्य का सम्बन्ध द्विजेत्तर से था। एटकिंसन के कथनानुसार वैदिक आर्यो की संख्या कम होने के कारण यहां पर इस समय दो जातियां प्रधान थी, जिसमें प्रथम खस एवं द्वितीय डोम। अन्य छोटी–छोटी जो जातियां यहां आई वे इन दो महाजातियों के हृदय में विलीन हो गयी। पुरातन वर्ण व्यवस्था के आधार पर यहां का समाज दो भागों में विभक्त था। प्रथम **बीठ** जो सवर्ण वर्ग था, दूसरा वैरसुआ असवर्ण वर्ण था। बीठ में ब्राहमण, क्षत्रिय या खश दोनों का सम्बन्ध था। इन दोनों के वैवाहिक सम्बन्ध अपने ही वर्ग के मध्य होते थे, परन्तु दोनों वर्गो की स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं था। वैरसुआ जो असवर्ण या अत्यंज वर्ग से सम्बन्धित था। सामाजिक स्तर पर इनका स्थान यद्यपि खशों से निम्न था, परन्तु वे अभी अस्पृश्य नहीं थे। धार्मिक एवं सामाजिक कार्य में इनकी बराबर हिस्सेदारी रही थी। मूतः यहां का समाज तीन भागों में विभाजित था– ब्राहमण, क्षत्रिय और शूद्र अथवा अन्त्यंज। सामाजिक स्तर पर यहां के शूद्रों को भी सामाजिक पदानुक्रम में वही स्थान दिया गया जो कि आर्यो की वर्णव्यवस्था में दिया गया।

शंकराचार्य के आगमन से पूर्व जहां 7वीं शताब्दी में उत्तराखंड में बौद्ध धर्म का प्रभाव रहा। वहीं इसके आगमन के पश्चात यहां बौद्ध धर्म का विलोप होता गया। राहुल के अनुसार सातवीं शताब्दी में उत्तराखंड में कत्यूरी राजवंश की स्थापना हुयी। तत्कालीन समय अधिकांश खश बौद्धधर्मी थे और डोम कहलाने वाली जातियॉ निश्चय ही बौद्धधर्म को मानने वाले रहे होंगे। यमुनादत्त वैष्णव के अनुसार 9वीं सदी में उत्तराखंड में शंकराचार्य का आगमन हुआ। इनके विचारों व व्यक्तित्व से कत्यूरी शासक अत्यधिक प्रभावित हुए। फलतः इन्होनें ब्राहमण धर्म स्वीकार किया। कालांतर में कत्यूरी शासकों ने शंकराचार्य की अनुमति से दक्षिण व पश्चिम भारत विशेषतः महाराष्ट्र, राजस्थान के क्षेत्रों से अप्रवासी ब्राह्मण तथा क्षत्रिय को अपने दरबार में आमंत्रित कर उन्हें बड़ी–बड़ी जागीरें प्रदान की। विशेषतः उन्होनें एक नई सामाजिक संरचना को जन्म दिया जिसमें यहॉ का समाज तीन से चार वर्गो में विभक्त

हो गया। फलतः कत्यूरी अभिलेखो में हमें चार प्रकार के वर्ग विभाजन का उल्लेख मिलता है जैसे कि –1 ब्राहमण 2–क्षत्रिय 3–खस 4–चण्डाल।

वर्ण विभाजन के इस क्रम में चाण्डाल डोम का समायोजन उत्तराखंड के इतिहास में पहली बार देखने को मिला क्योंकि इससे पूर्व चाण्डाल जैसे अपमानित और घृणित शब्द का प्रयोग यहां के समाज में देखने को नहीं मिला। हॉलाकि इससे पहले मेंदानी क्षेत्रों में डोम (चण्डाल) शब्द का प्रयोग शमशान घाट व सफाई सम्बन्धी कार्य के लिए होता था, परन्तु पर्वतीय क्षेत्रों में चाण्डालों की उपस्थिति पूर्व काल में न के बराबर थी। स्पष्ट है कि प्रवासी ब्राह्मणों ने अपने आर्थिक लाभ के लिए शिल्प सम्बन्धी कार्यो में जुटे व्यक्तियों को चाण्डाल अर्थात डोम घोषित कर दिया। शिल्पकार जातियों के लिए यही से डोम, डम, डोम्ब जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाने लगा। वास्तव में यह एक निन्दा सूचक शब्द था। कोल जाति जो खशों के कृषि सहयोगी भी थे, अब धीरे–धीरे दासता की श्रेणी में स्थापित हो गये। इस काल में खश शूद्र माने गये। ब्राह्मणों के आगमन से पूर्व खस जाति विहीन थे और ये भूत–प्रेतों की पूजा करते थे। वेद एवं ब्राह्मण धर्म के सम्बन्ध में इन्हें कोई ज्ञान नहीं था। खश और हिन्दू पद्धतियों में अन्तर होते हुए भी डा0 जोशी ने यह सिद्व करने का प्रयास किया कि खस आर्य जाति के थे किन्तु वैदिक रीति–रिवाज बनने से पूर्व ही भारत में आ गये थे।

टर्नर के अनुसार बाहर से आने वाले लोगों ने निम्न वर्ग को भूमि और संपत्ति से वंचित कर दिया और उन्हें दास बना दिया। कत्यूरी अभिलेखों के वर्ग विभाजन में खस और क्षत्रियों को अलग–अलग श्रेणियों में रखने का कारण खसों को निम्न क्षत्रिय कोटि में रखा जाना था। विशेषतः खस वर्ग के लोगो को शूद्र वर्ग से उच्चतर तथा वैश्य क्षत्रिय से निम्नतर समझा जाता था। हालांकि उत्तराखंड के समाज की वर्ण व्यवस्था में वैश्य का समावेश काफी समय बाद हुआ, तथापि 19वीं शताब्दी तक उत्तर चंदशासकों के समय तक खस जो कि आदिज कोटि में थे, अब इन्हें पूर्णतः क्षत्रिय वर्ग में स्थान मिला।

13वीं सदी के उत्तरार्ध तक ब्राह्मण धर्म का प्रसार सम्पूर्ण मध्य हिमालय तक बढ़ गया, जिन्होनें खस राजपूत और शिल्पकारों को अछूत बनाते हुए अपना प्रभाव स्थापित कर लिया। वाइ0एम0 वैष्णव के अनुसार कुमाऊँ के सामाजिक स्तरीकरण का मुख्य आधार चंद शासकों के द्वारा स्थापित शासन प्रणाली थी, जिन्होने यहॉ के समाज को आठ वर्गो में विभक्त किया था– 1. चार चौथानी 2.चार बूढा 3.पॉच थोक 4.छै घरिया 5.बारह अधिकारी 6.पंच बिडिया 7.,खटकवाल 8.पौरी पन्द्र विष्वा या विशु।

.इन 8 वर्गो का विवरण निम्न है–

ब्राहमण– चार चौथानी , छः घरिया, पंच विडिया एवं खटकवाल

क्षत्रिय – चार बूढा, पॉच थोक एवं बारह अधिकारी

शूद्र– पौरी पन्द्र, विश्वा या विशु

उपरोक्त में से पौरी पन्द्र विश्वा को चाण्डाल वर्ग का माना गया, कत्यूरी शासनकाल में इस अन्तिम वर्ग को छोडकर शेष अन्य को यज्ञोपवीत धारण करने की अनुमति प्रदान की गयी थी। सामाजिक स्तर पर यहॉ के दलितों या अन्तयज वर्ग को सामाजिक पदानुक्रम में वही स्थान मिला जो आर्यो की वर्ण व्यवस्था में शूद्र जाति को मिला। यहॉ के अप्रवासी ब्राह्मण जो स्वयं को ठुलजात या भलजात कहते थे, वही इन असवर्णो या अन्त्यजों को भ्यारजात अर्थात यहॉ की जाति व्यवस्था से बाहर का कहते थे।

उत्तराखंड में चंद–पवार राजवंश के बाद गोरखा शासन आरम्भ हुआ। इनके शासनकाल में भी सभी जातियां पूर्ववत बनी रही औपनिवेशिक काल प्रारम्भ में अंग्रेजों ने जाति प्रथा को नष्ट करने के लिए कोई विशेष नियम तो नहीं बनाए तथापि उनकी इतनी देन जरुर थी कि उन्होनें कानून के समक्ष सभी को बराबर का दर्जा दिया। इस प्रकार वर्णव्यवस्था एवं जाति व्यवस्था के क्रम में उत्तराखण्ड का समाज भी चार वर्णो में विभक्त हो गया – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र। जो कि क्षेत्रीय भाषा में ब्राह्मण ,खसिया एवं डोम के नाम से प्रसिद्ध हुए। उत्तराखण्ड का अधिकांश भागे पर्वतीय क्षेत्र होने के कारण यहॉ वैश्य वर्ग की उपस्थिति मध्यकाल तक नाममात्र की थी। कालांतर में औपनिवेशिक शासन के आरम्भ में व्यापार वाणिज्य में बृद्धि होने के कारण इनकी संख्या में वृद्धि हो गयी। वैश्य वर्ग में यहां वर्मा, चौधरी, अग्रवाल, मित्तल, गुप्ता, शाह इत्यादि जातियां सम्मिलित थी। उत्तराखंड के दलित वर्ग के अन्तर्गत शिल्पकार या शूद्र वर्ग को 1925 से पूर्व स्थानीय भाषा में डोम नाम से सम्बोधित किया जाता था। जो बाद में हरिजन कहे गये।

अतः उत्तराखंड के समाज में मध्यकाल तक उच्च और निम्न वर्ग का विभाजन ऐतिहासिक मोड पर पहुॅच गया। उच्च जाति के आप्रवासी बाह्मणों ने अपना सामाजिक स्तर नये ढंग से परिभाषित करते हुए आर्थिक और राजनीतिक विशेषाधिकार प्राप्त कर लिया, वहीं निम्न वर्ग के डोम अंत्यज को कृषक, मजदूर, शिल्पकार और भूमिहीन आदि जातियां सामाजिक क्रम में सबसे निम्न स्थान पर पहुॅचा दी गयी, जिसका मुख्य कारण इनकी निकृष्ट कर्मो में संलग्नता थी। इनकी अनेक उपजातियां थी, जिसमें परस्पर ऊॅच–नीच का भेदभाव पाया जाता है। ये उपजातियां समाज में अपने व्यवसाय से जानी जाती थी जैसे– लोहार, चमार, तेली इत्यादि। एटकिंसन द्वारा विभाजित शिल्पियों की चार श्रेणियॉ निम्नवत है–

1 प्रथम श्रेणी– कोली, टमटा, लोहार, ओड, तिरुवा, दाडी, बाडे

2–द्वितीय श्रेणी– भूल, रुडिया, चिम्यार, आगरी, पहरी, बारुडी, बांसफोड

3 तृतीय श्रेणी– चमार, मोची, धूना, भुरवरिया, हनकिया, अत्यादि

4 चतुर्थ श्रेणी– बादी, हुड़किया, ढोली, दर्जी, हलिया, प्रहरी, जल्लाद, बागुडी, डूमजोगी।

एटकिंसन की तरह राहुल सांकृत्यायन एवं बदरीदत्त पांडे ने भी सभी दस्तकार एवं शिल्पकारों की जातियों की सूची प्रदान की है, जिसमें टमटा, कोली, चमार, मोची, लोहार, ओड, रुड़िया, चिम्यार, भागरी, प्रहरी, बादी, हुड़किया, दर्जी, भूल, डूमजोगी, बारुडी, चर्मकार, भुरवरिया, धुना, बाजगीर, हलिया, नट, दर्जी ढोली, तिरुवा, ढाड़ी एवं बागुडी इत्यादि।

शिल्पकारों को हिन्दू समाज में भले ही निम्न श्रेणी में शामिल किया है लेकिन उत्तराखण्ड के समाज में इस वर्ग की अपनी अलग संस्कृति रही है। एटकिंसन द्वारा विभाजित शिल्पकारों की प्रथम श्रेणी में निर्धारित टम्टा जाति तांबे के बर्तन बनाने वाले, घुमक्कडी प्रवृति के लोग थे। प्राचीन काल के मन्दिरों में तांबे की मूर्तिया, कलश एवं अन्य कला की वस्तुए इन्हीं शिल्पियों द्वारा निर्मित की जाती थी। कालांतर में इन्होनें जातीय सुधार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। कोली जाति जहॉ कपडे बुनते व बनाते थे, वहीं लौहार प्राचीन काल से ही मन्दिर लौह त्रिशूल दिपक, चिमटे इत्यादि का निर्माण करते थे। तिरुवा भी इन्हीं में से एक जाति थी। ये किसानों के प्रमुख औजार बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। ओड जाति मिस्त्री, बढ़ई से समबन्धित कार्य करते थे। अभिलेखशाास्तों के आधार पर कहा जा सकता है कि प्राचीन काल के उत्कृष्ट कला भवन एवं मन्दिरों का निर्माण इन्हीं शिल्पियों द्वारा किया गया था। जागेश्वर लेख में ऐसे ही एक प्रमुख शिल्पी कल्याण सूत्रधार का भी उल्लेख मिला है जिसने मन्दिर के निर्माण कार्य किया है।

द्वितीय श्रेणी की जातियों में रुड़िया बास व निगाल की टोकरी, चटाई इत्यादि शिल्प का कार्य करते थे। इनमें बारुड़ी और बांसफोड़ जातियाँ भी शामिल है, जो बास फोडने, छीलने का कार्य करने के साथ–साथ डाले, सूपे, चटाईया, मोहट भी बनानें का कार्य करते थे। चिम्यार जाति के लोग लकड़ी के बर्तन बनाने का कार्य करते थे जैसे– ठेके, पाले एवं फरुबै इत्यादि। आगरी खानों में कार्य करने वाली जाति थी, इनका विवाह सम्बन्ध ओड़ो से भी हुआ है। प्रहरी जाति का कार्य गॉव में संदेशों का आदान–प्रदान करना व ग्राम प्रधान के प्रमुख सहायक का कार्य करना होता था। खाद्य सामग्री तथा बोझ ढोने का कार्य भी इन्हीं के पास था। फलतः इन्हें खण्डेला या भूखण्ड दिया जाता था। तेली जाति तेल निकालने वाले और कोल्हू चलाने वाले थे, साथ ही ये लोग मुर्गी व सुअर पालन का भी कार्य करते थे। तृतीय श्रेणी की जातियों में जहॉ चमार व मोची चमड़ा साफ करने व चमड़े के जूते चप्पल, ढोल नगाड़े आदि बनाने का कार्य करते थे, वहीं धुना रुई साफ करने का कार्य करते थे। धुना जाति के लोग गॉव में अनुपस्थित होने के कारण ये अपना कार्य कस्बो में करते थे। हनकिया जाति के लोग कुम्हार है, जो सुन्दर मिट्टी के कार्य करते थे।

एटकिन्सन की चतुर्थ वर्ग की जातियां जिन्हें सामाजिक पद मर्यादा में निम्नतम् स्थान प्राप्त था, वहीं उत्तराखंड की सांस्कृतिक विरासत इन्हीं लोगों के हाथों में सुरक्षित थी। बादी गॉव का गवैया, बजैया तथा बाजीगर है जो साथ–साथ मछली, चिड़िया पकड़ना एवं मुर्गी, सुअर पालन भी करते थे।

हुड़किया जाति के लोग हुड़के बजाकर अपनी जीविका चलाते थे। ये लोग कुमाऊँ–गढ़वाल के जागर–उजागरों के गायक भी थे। नृत्य–गायन वादन में इस वर्ग का मुख्य स्थान था। नाच–गायन कर ये लोग अपने देवी–देवताओं के उपासना–अराधना करते थे। स्त्रीयाँ भी इनके इस कार्य में सक्रिय योगदान देती थी। इनकी नारीयों के नृत्य–गायन रुप सौन्दर्य से मुक्त होकर सवर्ण समाज इनके ऊपर वैश्यावृत्ति बलपूर्वक थोप देते थे। कुछ विद्वानों का यह भी कहना है कि ये अपनी औरतौ से वृश्यावृत्ति कराते थे, जो कि वर्तमान अनुसंधानों में अमान्य है। यह कलंक इनको अपमानित करने के सिवा और कुछ नहीं है। दरजी जाति के लोग जिनको औजी भी कहते हैं। ये मुख्यतः सिलाई का कार्य करते हैं। ये ढोली व हुड़किया भी होते है। हलिया हल चलाने वाले होते थे, जबकि प्रहरी या जल्लाद फाँसी या सिर काटने वाले होते थे। डूमजोगी के जीविका का एक मात्र साधन भिक्षावृत्ति था। ढोली जिनको सामान्यतः दास भी कहा जाता था। इनका कार्य ढोल बजाने से था। ढोल की जागर अत्यंत मर्यादित होती थी।

उत्तराखंड में शादी विवाह, जागर–उजागर व पर्व उत्सवों जैसे शुभकार्यो में सर्वप्रथम ढोल को ही पिटियां लगाया जाता था। ऐसे अवसरों पर इनकी आवाज को अत्यंत शुभ व शगुन माना जाता था। हुड़किया वादी, ढोली अपने वाद्य यन्त्र को बजाने व जागर व गाथाओं का आयोजन करने से पूर्व उसे साक्षात शिवरुप मानकर उसके आगे नतमस्तक होते हैं। तभी वाद्य यंत्रो को बजाते हैं। अतः स्पष्ट है कि दासों का एक वर्ग अपना गौत्र महेश्वर बताते हैं और स्वयं का सम्बन्ध भगवान शिव से जोड़ते है। एक परम्परा के अनुसार भगवान शिव जब अपने ढोल को कस रहे थे। उन्होनें गाय की चमड़ी से निर्मीत ढोल के पुड़े को मुँह में दबाकर खींचा, जिसके कारण वे अपवित्र हो गए तब से उनके वंशज इस अपवित्रता को वहन कर रहे है।

डबराल के ढोल जागर में ढोलवादक को औजी कहा गया है जो कि ब्रह्मा और उनकी रानी गौतमी देवी के पुत्र आर्शदास का वंशज बताया गया है। इन्हीं के वंशज मध्य हिमालय के ढोली कहे जाते है। ढोल सागर में दासो के लिए गुनिजन शब्द का प्रयोग किया है जिसमें नर–नारी दोनों आ सकते है यह सम्बोधन पार्वती के लिए तथा ढोलवादक कलामर्मज्ञ दोनों के लिए उपयुक्त है। ढोलसागर ग्रन्थ की प्राचीनता से ही दासों की प्राचीनता का अनुमान लगाया जा सकता है। दासों की गायन वादन परम्परा को गन्धर्वो से जोड़ा जा सकता है। कारण गन्धर्व एवं अप्सराओं को गीत, नृत्य और वाद्य में अत्यंत निपुण और उनका अनुरागी बताया गया है। इसी कारण ढोलवाद्य एवं ढोलवादको से सम्बन्धित ढोलसागर ग्रन्थ का विकास गन्धर्व, वेद एवं सामवेदोत्तर की परम्परा से हुआ है। ढोलसागर ग्रन्थ में स्पष्ट रुप से कहा गया है कि ढोल की विद्या की साधना सब नहीं कर सकते है जो कि सर्वथा सत्य है।

दासों की ब्राह्मण कुल की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मदन चन्द्र भट्ट की वंशावली में इन्हें कश्मीर से आए हुए कौल ब्राह्मणों का वंशज माना गया है। इसी प्रकार बद्रीदत्त पांडे ने भी शूद्र वर्ग को गोरखनाथ ब्राह्मण की सन्तान माना है। डबराल के अनुसार डमरु थाली बजाकर देवी–देवताओं के वाहनों को जागरों से नचाने वाले जगरिया, धामी की परम्परा भी कोल जाति ने आरम्भ की थी। उत्तराखंड के समाज में जहॉ एक ब्राह्मण पुरोहित को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था, वहीं दूसरी ओर इन दास–जगरियों, गुरुओं को डोम, डूम, शूद्र आदि नामों से सम्बोधित किया जाता था। महेश्वर प्रसाद जोशी कहते है कि मध्य हिमालय में डूम मूलतः उस अयाजकीय पुरोहित को कहते थे, जो संस्कृत मंन्त्रों के स्थान पर बोल–चाल की भाषा में संगीत के साथ–साथ धार्मिक अनुष्ठान का भी कार्य करते थे। कालांतर में उनकी जाति के सभी लोग डूम नाम से जाने गये। तंन्त्रसार में डूम को निम्न उत्पत्ति का व्यक्ति, नाचने गाने से आजीविका चलाने वाला कहा गया है। यही कार्य मध्य हिमालय में दास–शिल्पकार समुदाय द्वारा संचालित होते है।

उत्तराखंड के शिल्पकार समाज का खान–पान, रहन–सहन वेशभूषा और सांस्कारिक कर्मकाण्ड भी सवर्ण समाज के समान ही था। हालॉकि कुछ रीति रिवाजों में उच्च–निच्च का सामाजिक भेदभाव भी स्पष्ट रुप से था। प्राचीन काल से ही शूद्रो को निवास–स्थान सवर्ण वर्ग के निसास स्थानों के दूर मकान बनाने की अनुमति दी गयी थी। मध्य काल में भी इस वर्ग में कोई आमूल–चूल परिवर्तन देखने को नहीं मिला। इस काल में भी अछूतों तथा निम्नवर्ग की झोपड़िया गॉव की सीमा पर बनाये जाते थे। ऐसा ही हमें उत्तराखंड के समाज में भी दिखाई–पड़ता है। यहाँ पर इनके आवासीय क्षेत्र ग्राम के निम्न भाग में होते थे जिनको डूमोड़ कहा जाता था। इनके गुसाइयों के आने जाने का मार्ग भी अलग होता था। ये न तो उनके नौले या धारा से पीने का पानी ले जा सकते थे और ना ही उनकी पनचक्कियों में अपना अनाज पिसवा सकते थे। इनको प्रारम्भ से ही घृणित माना जाता था और इन्हें सवर्ण वर्ग के लोग छूते तक नहीं थे। ये गाँव से बाहर बसाये जाते थे। बाहर बसने पर इस वर्ग को मैरबस्वा या मैरसवा कहा जाता था। इनका मकान प्रायः एक मंजिला होता था। शिल्पकार जो विठ के मकान बनाते थे, पर स्वयं रहने के लिए घास की झोपड़िया बनाते थे, भले ही ये सर्वण के शादी–विवाह में ढोल दमामे, तूरी, भौकर आदि वाद्यो को बजाते थे और उनके दुल्हा–दुल्हनों को डांडी–पालकी में उठाकर ले जाते थे, किन्तु इनको अपनी बारातों में न तो वाद्यो को बजाने का अधिकार था न ही मुकुट बाधने का न ही निशान ले जाने का और न हीं डांडी पालकी में बैठाकर ले जाने का अधिकार था। ये अपनी बारातें उजाले में नहीं ले जा सकते थे और ना ही बीठौ के गांवो से होकर जा सकते थे। सवर्ण लोग इनके विवाहों को देखना भी पसंद नहीं करते थे। इस सम्बन्ध में कुमाऊँ में एक लोकोक्ति भी प्रसिद्ध थी–**डूमक ब्या आखेकि किरकिरी** अर्थात **डूमो का ब्याह देखना ऑख में पड़े रेत के कण के समान चुभता है** तथापि ये सवर्ण समाज के साथ सभी कार्यो में अपनी सहभागिता निभाते थे जैसे सवर्ण समाज

में किसी की मृत्यु होने पर शवयात्रा जाना और चिता के लिए लकड़ियों की व्यवस्था करना एवं सवर्ण समाज के घर एवं खेतों में कृषि कार्य करना।

उत्तराखंड का अधिकांश भाग पर्वतीय क्षेत्र होने के कारण यहां की वेंशभूषा भी पहाड़ी शैली में ढली हुई थी। यहां की दलित जातियां भी कुछ हद तक बीठ के समान वस्त्र पहन सकते थे। यहां के शिल्पकार स्त्रियों द्वारा जहां काला, नीला घाघरा, आंगडी, जेब वाला ब्लाउज बच्चों और लड़कियो को झगुले तथा तीज त्यौहारों में रंग–बिरंगे वस्त्र पहने जाते थे वही पुरुषों में कुर्ता–पैजामा, कोट, टोपी इत्यादि पहने जाते थे। हालॉकि कुछ दलित जातियों के लोग आर्थिक स्थिति खराब होने के कारण कुछ लोग धनाढय वर्ग के कपड़ों को भी मांगकर पहनते थे। यहां के दलित–शिल्पकार लोग रामबांस, भांग, भीमल आदि के रेशों से वस्त्र बनाकर भारत के विभिन्न हिस्सों में उसका निर्यात भी किया करते थे। इस कार्य में उत्तराखंड के समाज में दलित वर्ग की भूमिका हमेंशा बनी रही। इन लोगों का खान–पान भी सवर्ण समाज के ही समान था। हालॉकि इन लोगों में मांसाहार के रूप में मोटामांस ढेरा खाने की भी प्रथा प्रचलित थी।

किसी भी जाति या समाज की पहचान उसके संस्कारों से होती है। दलित समाज के संस्कार भी सवर्ण समाज के ही भांति होते थे चाहे वह जन्म संस्कार हो, शिक्षा संस्कार हो, विवाह संस्कार हो या अन्तिम संस्कार।

अछूत या दलित समाज में शिशु जन्म के बाद बकरे के गले में बड़ी माला पहनाकर उनके कान खींचे जाने की परम्परा थी क्योंकि लोक विश्वास था कि बकरी जितनी बार चिल्लायेगी बालक की आयु उसी के अनुसार कम या अधिक होगी। विष्णु पुराण में भी कहा गया है कि शूद्रों का उपनाम दास होना चाहिए। उत्तराखंड में भी दास, टम्टा, राम इत्यादि का प्रचलन आरम्भ से ही रहा है। नामकरण के पश्चात् बारह–तेरह वर्ष की आयु में शिशु का शिल्प या शिक्षा संस्कार आरम्भ होता था। शिल्प अर्थात शिक्षा संस्कार में स्त्रियाँ गीत गाती थी। शिल्पी अर्थात शिक्षा गुरु के ज्ञान को समर्पित करती थी। याज्ञवल्कव्य के एक श्लोक से प्रकट होता है कि मृतकों के लिए भी अध्यापक होते थे।

उत्तराखंड के दलितो में भी बाल–विवाह, अर्न्तजातीय विवाह, पैटुणिया विवाह आदि प्रचलित थे। विवाह के अवसर पर वधु का पिता वर को एक कृपाण और बदले में वर का पिता वधु को एक खुखरी जीवन रक्षा के लिए प्रदान करता था। आज भी दुल्हन के साथ डोली में दराती रखने की परम्परा भी यहीं से ली गई है। ये लोग अपनी माता, दादी नानी और अपने उपजाति में विवाह नहीं करते थे। वयस्क मृतकों को जलाया जाता था जबकि शिशुओं की मृत्यु होने पर उन्हें दफनाया जाता था। प्राचीन काल से ही शूद्रो को अपने मृतको को सवर्णों के शमशान घाट में जलाने की अनुमति नहीं थी। उन्हें बहुत दूर पर अपने बगड़ बनाने पड़ते थे। अत्यधिक विवाद के कारण बागेश्वर के प्रसिद्व शमशान घाट में शूद्रशव सन् 1949 में खरई पट्टी के नेता स्व0 श्री नरी टम्टा का जलाया गया। उत्तराखंड के

दलित हरिजन वर्ग के लोग मृत्यु के बाद 10 दिन का अशौच करते थे और 12वे दिन पीपल पानी होता था, इस अवसर पर ये लोग शराब का सेवन और बकरा काटकर खाते थे। बद्रीदत्त पांडे के अनुसार वे श्राद्ध कनामतों की अमावश्या को करते थे जिसमें ब्राह्मण उनका भांजा या जमाई होता था। आधुनिक खोजों से पता चला है कि इन वर्गो के अपने का ब्रह्मण होते थे वे धार्मिक मनोवृत्ति, स्वच्छ पारिवारिक पृष्ठभूमि तथा साथ ही धर्मशास्त्रों व तंत्रशास्त्रों के भी ज्ञाता होते थे। अतः 20वीं शताब्दी के द्वितीय दशक तक आर्य समाज में दीक्षित शिल्पकार पुरोहितों का एक नया वर्ग उत्पन्न हुआ जो कि आर्यसमाज की पद्वति से शिल्पकार वर्ग के कर्मकाण्डों व संस्कारों को पूरा करने लगे।

19वीं 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में सम्पूर्ण भारत में अछूतोद्वार आन्दोलन की लहर चल रही थी। इसका प्रभाव उत्तराखंड के दलित जातियों में भी पड़ा। दलित समाज के प्रति यह कहने में भी कोई संकोच नहीं है कि इनके प्रति सदियों से जो अमानवीय व्यवहार हुआ, वह भारतीय समाज की एक परम्परागत नीति बनकर रह गयी। औपनिवेशक शासनकाल में ब्राह्मणवादी व्यवस्था के विरोध में ज्योतिबा फूले प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होनें दलित वंचित वर्ग के लिए सर्वप्रथम समतावादी आन्दोलन को जन्म दिया, जिसको परिपक्व करने में बाबा अम्बेडकर की प्रमुख भूमिका रही। ये ऐसे महामानव युगपुरुष थे, जिन्होनें राष्ट्रीय स्तर दलितों के साथ हुए अमानवीय व्यवहार के प्रति आक्रोश फैलता गया। उत्तराखण्ड में भी पीड़ित व शोषित दलितों में इस आक्रोश को दूर करने में मुंशी हरिप्रसाद टम्टा, खुशीराम एवं जयानन्द भारती इत्यादि समाजसेवी नेताओं ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, जिसमें दलित शिल्पकार समाज में कई नवीन सुधार और जागरुकता उत्पन्न हुई।

उत्तराखंड के दलित शिल्पकार जातियों को औपनिवेशिक काल तक सामाजिक समानता का आधार नहीं मिला तथापि समाज में लोक संगीत, लोक साहित्य, लोकनृत्य, लोकगाथा एवं लोक धर्म आदि से इनका जीवन घनिष्ट रुप से जुड़ा है। आश्चर्य की बात है कि उत्तराखंड की सांस्कृतिक विरासत मुख्य रुप से इन्हीं लोगो के हाथ में है, जिन्हें सामाजिक पद मर्यादा में निम्नतम स्थान दिया गया है। फलतः उत्तराखंड में दलितों की सामाजिक प्रतिष्ठा की लडाई में शिल्पकार समाज सेवी नेताओं ने इनके लिए प्रयोग किया जाने वाल शब्द डूम व डोम के लिए सख्त आक्रोश जताया। डूम चूंकि मेंदानी क्षेत्र में चण्डाल व सफाई कार्य वाले थे, जिनकी उपस्थिति उत्तराखण्ड में न के बराबर थी। कारणवश 1929 ई0वी0 से ही शिल्पकार समाज सेवी नेताओं द्वारा जिसमें हरिप्रसाद टमटा खुशीराम, जयानन्द भारती व बाबू बोध सिंह आदि थे, ने इस शब्द का घोर विरोध किया। सन् 1921 में सुपरिन्टैडेन्ट सैन्सर्स आपरेशन संयुक्त प्रांत के पत्र में इन्होनें डूम शब्द के स्थान पर शूद्र शब्द के प्रयोग की इच्छा व्यक्त की। सन् 1931 की जनगणना में शिल्पकार नेताओं के हस्तक्षेप से ही डूम शब्द के स्थान पर शिल्पकार शब्द लिखा गया।

उत्तराखंड के दलितो में जागरुकता लाने व सामाजिक धार्मिक सुधार करने में आर्य समाज की प्रभावशाली भूमिका रही, जिसके कारण सन् 1947 ई0 से आर्य समाजी शिल्पकार नेता अपने नाम के आगे आर्य शब्द लिखने लगे। आजादी के बार 26 जनवरी 1950 को भारत का संविधान लागू किया गया जिसमें सामाजिक असमानता छूआछूत को दूर करके समानता एवं समाजवाद के आदर्श को प्रमुख स्थान दिया गया।

संदर्भ ग्रंथ सूची –

1. ऋग्वेद, 9 , 10, ,12, 90, 112

2. प्रद्योत चमनलाल, पंत एस. के. उत्तराखण्ड के शिल्पकार विन्सर पब्लिकेशन देहरादून, 2012 पृष्ठ 43।

3. डबराल, शिवप्रसाद, उत्तराखण्ड का इतिहास, भाग–1, पृष्ठ 84।

4. जोशी, एल. डी. खश फैमिली लॉ, गवर्मेंट प्रेस, इलाहाबाद, 1929, पृष्ठ 28।

5. एट्किंसन, टी. एड्विन, हिमालयन गजेटियर, ग्रंथ 3, भाग–1 हिमालयन संचेतना संस्थान चमोली, 1998, पृष्ठ 106।

6. जोशी, एम. पी. मध्य हिमालयय की अनुसूचित एवं पिछ्ड़ी जातियां, परम्परा शिल्प एवं उद्यम, अल्मोड़ा बुक डिपो अल्मोड़ा पृष्ठ 22।

7. पाण्डे, बद्रीदत्त, कुमाऊं का इतिहास, अल्मोड़ा बुक डिपो अल्मोड़ा, 1937, पृष्ठ–510।

8. जोशी एम. पी. शूद्रों का ब्राह्मणत्व मध्य हिमालय अनुभव, श्री युग शैल कल्याण समिति पृष्ठ–22, 24, 25 ।

9. डबराल, शिवप्रसाद, ढ़ोल सागर संग्रह प्रथम संस्करण, वीरगाथा प्रकाशन दोगड़ा,गढ़वाल, 1989, पृष्ठ 07।

10. शर्मा, डी. डी, शर्मा, मनिषा, उत्तराखण्ड का सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, अंकित प्रकाशन, हल्द्वानी, 2017, पृष्ठ 21।